समय से संवाद : 3

रंग वैचारिकी नये सन्दर्भों में

समय से संवाद : 3

रंग वैचारिकी नये सन्दर्भों में

सम्पादक

आशा

श्रृंखला सम्पादक

किशन कालजयी

अनन्य प्रकाशन

प्रकाशक : **अनन्य प्रकाशन**
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

© लेखकों की ओर से सम्पादक

संस्करण : 2015

आईएसबीएन : 978-93-81997-32-1

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक : कॉम्पैक्ट प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

समय से संवाद

एक सच्चे लोकतन्त्र में न तो किसी तरह की सामाजिक गैरबराबरी की जगह हो सकती है और न ही किसी तरह की आर्थिक असुरक्षा की। इन दोनों कसौटियों पर परखें तो अभी हम एक पिछड़े हुए लोकतन्त्र में जी रहे हैं। भारतीय लोकतन्त्र को नियन्त्रित करने वाली समकालीन राजनीति में जिस तरह के नेतृत्व का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि सवा सौ करोड़ की आबादी वाले इस देश में पंचायत से लेकर संसद तक नेतृत्व जिनकी मुट्ठी में है, वे किस वर्ग के हैं और वे सही अर्थों में किनका प्रतिनिधित्व करते हैं? देश के 70 प्रतिशत लोग जो 20 रुपये रोजाना पर गुजर करने के लिए विवश हैं, क्या यह नेतृत्व उनकी भूख, उनकी शिक्षा, उनके स्वास्थ्य और उनके घर के लिए सरोकारी है? इनकी राजनीति में किसानों के संघर्ष और पीड़ा के लिए कितनी जगह है? भारत अभी भी कृषि प्रधान देश है, लेकिन संसद में किसानों के कितने नुमाइन्दे हैं? आखिर कारण क्या है कि सबसे अधिक आत्महत्या किसान ही करते हैं? अब इस देश में जो चुनावी संस्कृति पनपी है उसमें शायद ही कोई किसान विधायक या सांसद बनने का सपना देखता हो। इस देश की अधिकांश आबादी (गरीब) मतदाता बनकर रह सकती है या उपभोक्ता बनकर। इससे ऊपर उसकी कोई हैसियत ही नहीं है।

एक समय था जब राजनीतिक और सामजिक क्षेत्र में नेतृत्व स्वाभाविक तौर पर उभरता था और उसे स्वाभाविक स्वीकृति भी मिल जाती थी। समाज ईमानदारी से अपना नेता चुन लेता था, और नेताओं में भी वे गुण होते थे जो होने चाहिए थे। तब के नेताओं को अपेक्षाकृत निष्ठा, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों की परवाह रहती थी और उनके गम्भीर सामाजिक सरोकार होते थे। जन आन्दोलनों की बात यदि छोड़ दें तो संसदीय राजनीति में अब नेता समाजसेवा और जनसंघर्ष जैसे लम्बे, उबाऊ और थका देने वाले रास्ते से नहीं आते, अब वे राजनीतिक और औद्योगिक घराने से आते हैं या फिर नौकरशाही से।

अभी हाल ही में सम्पन्न हुए दिल्ली विधान सभा चुनाव के अभूतपूर्व नतीजे आये। भारतीय जनता पार्टी के शीर्ष नेतृत्व ने अपने कार्यकर्ताओं और नेताओं की उपेक्षा करते हुए अचानक किरन बेदी को दिल्ली के मुख्यमन्त्री का उम्मीदवार बनाया

था। लेकिन दिल्ली की जनता ने किरन बेदी को कबूल नहीं किया। दिल्ली की जनता का यह फैसला उस राजनीति के लिए एक सबक है जो राजनीति के 'शास्त्र' से बाहर जाकर अपनी मनमानी करती है।

राजनीति की यह मनमानी और अपसंस्कृति मौजूदा लोकतन्त्र का बड़ा संकट है और यही संकट आज के समय का संकट है। इस पुस्तक शृंखला का बुनियादी सरोकार अपने समय से संवाद करना है। समय का तात्पर्य उस सच्चाई से भी है कि बच्चे यदि देश के भविष्य हैं तो बच्चों के लिए शिक्षा और साहित्य का एक उन्नत परिवेश होना चाहिए। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का स्वभाव यदि जनविरोधी हो गया है तो मीडिया की जिम्मेवारी जनपक्षीय होनी चाहिए। दुर्योग यह है कि मीडिया कारपोरेट के चंगुल से निकल नहीं पा रहा है। जाहिर है उसकी प्राथमिकता सत्य की खोज करने और झूठ को ध्वंस करने में नहीं रही, वह कारपोरेट और सत्ता के बीच दलाली के दलदल में फँसता जा रहा है।

पिछले छः वर्षों में 'सबलोग' के माध्यम से हर महीने किसी एक मुद्दे पर पड़ताल होती रही है। 'सबलोग' के पाठकों की यह इच्छा रही है कि 'सबलोग' में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री को पुस्तक रूप में लाया जाए। यह तो उचित नहीं होगा कि 'सबलोग' के तमाम अंकों को पुस्तकाकार किया जाए, लेकिन कुछ सामग्री अत्यन्त स्थायी महत्त्व की और उपयोगी हो सकती हैं। इस प्रकाशन-परियोजना से हमने दस युवा सम्पादकों को जोड़ा जो इस विश्व पुस्तक मेला-2015 के लिए दस पुस्तकों का दृष्टि सम्पन्न सम्पादन कर सकें। यह सिर्फ संयोग है कि ये सभी सम्पादक 'संवेद' और 'सबलोग' से जुड़े रहे हैं। साहित्य, सिनेमा, शिक्षा, मीडिया, दलित राजनीति, आदिवासी साक्षरता, स्त्री-विमर्श, बाल साहित्य, हिन्दी उपन्यास पर सम्पादित पुस्तकों में कई पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें 'संवेद' और सबलोग' का एक भी लेख नहीं है। इसलिए इस पुस्तक शृंखला को सिर्फ 'संवेद' और 'सबलोग' के दायरे में नहीं देखा जाना चाहिए।

जितने कम समय में सभी सम्पादकों ने इन पुस्तकों को तैयार करने में जो मेहनत की है उसके लिए धन्यवाद जैसा औपचारिक शब्द काफी छोटा है। हाँ, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं हो रही है कि ये सभी युवा सम्पादक अपनी-अपनी विधा में सृजनशील प्रतिभा के धनी हैं, किसी प्रकाशन-योजना में इनका एकजुट होना हिन्दी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस 'घटना' को अंजाम देने के लिए प्रकाशक अतुल माहेश्वरी ने जो तत्परता और तैयारी दिखायी है, वह उनकी वैचारिक समझ को रेखांकित करती है और हिन्दी प्रकाशकों की भीड़ से भी उन्हें अलग करती है। समय से यह संवाद यदि पाठकों को पसन्द आया तो यह सिलसिला जारी रहेगा।

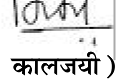

(किशन कालजयी)

स्वस्थ संवाद और व्यवहार की जरूरत

रंगमंच अपने उदय से ही समाज को साथ लेकर चला है। नाटक लिखे जाने से उसके मंचित होने के बाद के प्रभाव तक यह सम्पूर्णतः सामाजिक ही रहता है। इन अर्थों में समाज के प्रति उसकी जिम्मेदारियाँ अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में कहीं ज्यादा हैं। नाटक की खासियत यह है कि वह लिखा किसी भी काल में जाए खेला हमेशा वर्तमान में जाता है और सुधि रंगकर्मियों की कल्पनाशील 'एप्रोच' के कारण वह हमेशा वर्तमान की स्थितियों से अपने आप को जोड़ भी लेता है। जहाँ तक हिन्दी रंगमंच की बात है इसकी जड़ें संस्कृत रंगमंच से लेकर लोक-नाट्यों तक फैली हुई हैं। भारतेन्दु युगीन रंगमंच, पारसी रंगमंच, पृथ्वी थियेटर, इप्टा इसकी यात्रा के अलग-अलग पड़ाव हैं। हिन्दी रंगमंच ने अपना वास्तविक रूपाकार आजादी के बाद ग्रहण करना तब शुरू किया जब यह राज्य की सांस्कृतिक नीति में शामिल हुआ। इस दौरान रंगकर्मियों की एक पूरी जमात हिन्दी रंगमंच को संवारने में शिद्दत से जुटी। 70 और 80 के दशकों को हिन्दी रंगमंच का स्वर्णिम काल कहा जाता है। इस दौरान हिन्दी रंगमंच में न केवल हिन्दी नाटक खूब लिखे और खेले गये बल्कि संस्कृत नाटकों के साथ ही लोक-नाट्य रूपों का युगीन सन्दर्भों में इस्तेमाल हुआ। इसके अलावा, पश्चिमी नाटकों के रूपांतरों के साथ ही कहानी, कविता, उपन्यास, डायरी, व्यंग्य रचनाओं जैसी नाटकेतर विधाओं की आवाजाही भी मंच पर काफी हुई। लेकिन इसके बाद उदारीकरण का प्रभाव कहिये या तकनीक का विकास या मनोरंजन के नये साधनों का विकास—हिन्दी रंगमंच में काम तो बहुत हुआ लेकिन 'उन दिनों' जैसी बात बन ही नहीं पायी। इस बात का यह अर्थ कतई नहीं है कि हिन्दी रंगमंच में 80 के दशक के बाद कुछ खास नहीं हो रहा है बल्कि ध्यान इस ओर दिलाना है कि पिछले तीस वर्षों में मंचित होने वाले नाटकों की संख्या पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा होने के बावजूद अर्थवान प्रस्तुतियाँ कितनी हैं? कुछ तो कारण होंगें ही कि इतना काम होने के बावजूद कुछ खास निकल कर नहीं आ पा रहा है। मराठी और बांग्ला रंगमंच की तुलना में आज हिन्दी रंगमंच पिछड़ा क्यों लगता है? क्या हिन्दी रंगकर्मियों की प्रतिबद्धता में कमी आयी है? पहले रंगकर्मी अपने सिद्धांतों एवं शर्तों पर केवल रंगकर्म करते थे, उनका प्रधान लक्ष्य पैसा कमाना नहीं

होता था। लेकिन आज उपभोक्तावादी संस्कृति की लोकप्रियता के चलते रंगमंच अपने मूल लक्ष्यों से तो नहीं भटक रहा है?

आजकल रंगकर्म के लिए मिलने वाले अनुदान का सही उपयोग न होने की बहुत बातें सुनने को मिल रही हैं और जिनमें से बहुत सारी सच भी हैं। रंगमंच में अनुदान का फैलाव अब केवल राज्य तक ही सीमित नहीं रह गया है बल्कि एन.जी.ओ. और कॉर्पोरेट भी इस क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। आर्थिक सहारे के लिए यह उत्साहजनक है लेकिन इसके नकारात्मक प्रभाव से भी बचकर चलना जरूरी है। इसके सही इस्तेमाल न होने के कारणों की पड़ताल करते हुए नई सम्भावनाओं और दिशाओं की तलाश करनी होगी। प्राचीन काल से अब तक हमारा सांस्कृतिक ढांचा इस प्रकार का नहीं बन पाया है जिसमें नाटक करने वाले बिना राज्याश्रय (आज के शब्दों में अनुदान) के अपनी कला का प्रदर्शन अपने बूते कर पाएँ। अनुदानों के लिए चयन और वितरण की प्रक्रिया को और ज्यादा पारदर्शी बनाए जाने की आवश्यकता है। अनुदान-राशि ईमानदारी से उसके मूल लक्ष्यों पर खर्च की जाए। रंगकर्मियों को अपने पेशे के प्रति नैतिक जिम्मेवारी तय करनी होगी। अनुदान केवल सरकारी खानापूर्ति और कर्तव्य की इतिश्री का माध्यम न बने बल्कि स्वस्थ संस्कृति के निर्माण में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करे। रंगमंच को पुष्पित-पल्लवित होने के लिए राज्य के संरक्षण की आवश्यकता रही जरूर है लेकिन इतिहास इस बात की भी गवाही देता है कि राज्य की नीतियों, समय और समाज की नीतियों पर कटाक्ष, व्यंग्य या उनके भीतरी निहितार्थ को भी रंग-कला सबसे ज्यादा सशक्त ढंग से उठाती रही है।

देश की राजधानी में स्थापित होने और 'राष्ट्रीय' होने के कारण राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा दिए जा रहे प्रशिक्षण की प्रकृति और प्रक्रिया का भी पुनरावलोकन जरूरी है। दरअसल प्रशिक्षण के दौरान की जाने वाली प्रस्तुतियों में अकूत तकनीकी सुविधाएँ प्रशिक्षुओं को उपलब्ध करवाई जाती हैं, जिनको 'मैनेज' करने का उनका कोई अभ्यास नहीं होता, न ही प्रशिक्षण के दौरान इस बात की चिन्ता होती है। लेकिन जिस दिन रंगकर्मी प्रशिक्षित होकर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के कैंपस से बाहर पैर रखता है, तब उसे समझ में आता है कि जो सुविधाएँ उसे 'ऐसे ही' मिलती रहीं, उन्हें जुटाना कितना खर्चीला और मुश्किल भरा है! रिहर्सल स्पेस से लेकर हॉल का किराया, तकनीकी पक्ष के आयोजन और खर्च से घबराकार उसकी हिम्मत पस्त होनी स्वाभाविक है। इन्हीं संसाधनों की कमी के चलते आजीविका की गारंटी न मिलने के कारण रंगकर्मी मजबूरन टी.वी. और सिनेमा की तरफ रुख कर जाते हैं।

ग्लोबलाइजेशन के चलते मनोरंजन के नवीनतम साधनों ने भी रंगमंच को प्रभावित किया है। जब से टी.वी. पर 'सोप ऑपेरा' की बाढ़ आयी है तब से अभिनेताओं की मांग अत्यधिक बढ़ गयी है। पहले अभिनय-प्रशिक्षण के केन्द्र राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, भारतेंदु नाट्य अकादमी, पुणे का अभिनय, फिल्म व टेलीविजन इंस्टिट्यूट

होते थे। लेकिन अब लगभग हर शहर में अभिनय की वर्कशॉप या सेंटर्स की बाढ़ आ गयी है, जिसमें मोटी फीस लेकर अभिनय-संस्कार के नाम कुछ खास नहीं सिखाया जाता। इन केन्द्रों के औचित्य पर भी विचार किये जाने की जरूरत है।

आज के जीवन में तकनीक का बहुत विस्तार हो गया है। तकनीक पर जीवन इतना निर्भर हो गया है कि इसके बिना जीवन के एक क्षण की कल्पना करना मुश्किल है। तकनीकी यंत्रों के अत्यधिक इस्तेमाल से नाटक का जीवन्त पक्ष अर्थात अभिनेता कहीं पीछे छूटता जा रहा है। हिन्दी रंग-जगत में कई प्रस्तुतियाँ ऐसी रही हैं जिसमें तकनीक के अत्यधिक चमत्कार के आगे अभिनेता बौने, बेबस और लाचार नजर आये। क्या आधुनिकता के नाम पर यह स्थिति सही है? तकनीक का विवेकपूर्ण इस्तेमाल हो, तकनीक साध्य बनकर ही रहे और उसके तर्कसंगत प्रयोग पर भी नाक-भौं न सिकोड़ी जाए। रंगमंच चूँकि एक मिश्रित कला है अतः इसमें मानव संसाधन और भौतिक संसाधन दोनों का तालमेल होना स्वाभाविक है।

आज का समय भागमभाग का है, इस अत्यन्त गतिशील समय में हर कोई अपना काम 'फटाफट' साध लेना चाहता है। किसी के पास भी ठहरकर सोचने और करने का समय नहीं है। तमाम तरह की सुविधाओं से लैस होने के बावजूद समय की कमी का रोना हर कोई रो रहा है। ऐसे में रंगमंच की चुनौतियाँ बढ़ जाती हैं। आज के हिन्दी रंगमंच में तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं जिनमें नाना प्रकार के नाट्य रूपों और शैलियों को आजमाया जा रहा है, जिनमें से बहुत सारी प्रस्तुतियाँ अर्थपूर्ण भी सिद्ध हो रही हैं और बहुतेरी व्यर्थ भी जा रही हैं। चुनौती यह है कि आज रंगकर्म के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह आज के समाज से कितना जुड़ पा रहा है या रंगकर्मियों द्वारा उसे जोड़ने की कितनी कोशिश की जा रही है? और उन कोशिशों से क्या हम दर्शक को कोई रुचिकर संस्कार दे पा रहे हैं? क्या नाटक देखकर प्रेक्षागृह से बाहर निकल रहे अपने दर्शक को उसके आस-पास हो रही घटनाओं के प्रति एक आलोचनात्मक सोच और समझ आज का रंगमंच दे पा रहा है? इससे भी बड़ा सवाल यह है कि तमाम तरह की सरकारी सहायता के बावजूद हिन्दी रंगमंच यहाँ की जनता की सांस्कृतिक जरूरत में शामिल नहीं हो पाया है।

कुछ आलोचकों का मानना है कि आजकल अच्छे नाटक कम लिखे जा रहे हैं। लेकिन जब हम नाटकों के प्रदर्शनों की संख्या पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि साल-दर-साल यह संख्या बढ़ रही है। दरअसल नाटककारों द्वारा भले ही नाटक कम लिखे जा रहे हों, लेकिन नये-नये आलेख तैयार हो रहे हैं। यह भी सुखद संयोग है कि कुछ निर्देशक स्वंय अपनी प्रस्तुति के लिए आलेख तैयार कर रहे हैं। मंचन योग्य आलेखों की कमी नहीं है। हाँ, नये नाटक छापने के लिए प्रकाशकों में उत्साह नहीं दिखाई पड़ता। इस बात की भी पड़ताल किये जाने की आवश्यकता

है। क्या नये लिखे गये नाटक को मंचित करने का 'जोखिम' आज का निर्देशक उठा पा रहा है?

आज के रंग-परिदृश्य में जब भी लोकनाट्यों की चर्चा की जाती है तो सभी रंगकर्मी इसके महत्त्व की बात स्वीकार करते हैं लेकिन जब हम बड़े शहरों में मंचित हो रहे नाटकों को देखते हैं तो उनमें लोक-तत्व को नदारद पाते हैं! (अपवादों को छोड़कर) लोक रंग-शैलियों और रूपों का इस्तेमाल कितने रंगकर्मी कर रहे हैं?

ऊपर लिखी गयी बातों के साथ ही इस बात को लेकर संतोष होता है कि छोटे शहरों और गाँव-देहात में रंग-क्षेत्र में काफी काम हो रहा है पर बिना किसी ताम-झाम और प्रचार के। जरूरत है तो उस पर ध्यान देने की, उसे मुख्य धारा के रंगमंच से जोड़ने की। क्योंकि भारत कितना ही विकास क्यों न कर गया हो अब भी यहाँ बहुसंख्यक आबादी 'नागरिक' न होकर 'लोक' ही है और लोक में ही संस्कृति अपने प्राकृतिक रूप में बसती है। इसके अलावा देशभर में समय-समय पर हो रहे नुक्कड़ नाटकों में दिख रहे जोश और उत्साह को भी सकारात्मक दिशा दिये जाने की जरूरत है। बहरहाल! यह हिन्दी रंगमंच की जीवन्तता ही है कि वह 'अभिज्ञान शाकुंतलम', 'यहूदी की लड़की', 'अंधायुग' 'आगरा बाजार' जैसे लोकप्रिय और बहु मंचित नाटकों को लगातार नये-नये सन्दर्भों में नये-नये प्रयोगों से सामने ला रहा है।

यह पुस्तक हिन्दी रंगमंच की स्थिति को प्रस्तुत करने की एक कोशिश है जिसमें हिन्दी रंगमंच से सरोकार रखने वाले अलग-अलग लेखकों के कुल सत्रह लेख हैं। सबसे पहले मैं इस पुस्तक में शामिल सभी लेखकों का धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने अपने लेख प्रकाशित करने की अनुमति दी। इनमें से कई लेख 'नटरंग','रंग प्रसंग', 'परिकथा', 'संवेद' और 'समकालीन रंगमंच' जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, इन सभी पत्रिकाओं का भी आभार! कुछ लेखकों ने खास इसी पुस्तक के लिए ताज़ा लेख दिए हैं, मैं उनका विशेष रूप से धन्यवाद करती हूँ।

'समय से संवाद' पुस्तक-शृंखला के सम्पादक श्री किशन कालजयी की आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सम्पादित करने के लिए मुझ पर विश्वास दिखाया।

पुस्तक की रूपरेखा तैयार करने से लेकर नामकरण तक में मेरे दो साथियों—मुन्ना कुमार पाण्डेय और अमितेश ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है, उनके सद्भाव की शुक्रगुजार हूँ।

अन्त में प्रकाशक का भी आभार!

—आशा

वसंत पंचमी, 2015

अनुक्रम

समय से संवाद	: *किशन कालजयी*	(*v*)
स्वस्थ संवाद और व्यवहार की जरूरत	: *आशा*	(*vii*)
हिन्दी रंगमंच का भूत, वर्तमान और भविष्य	: *देवेन्द्र राज अंकुर*	13
रंगमंच और हिन्दी समाज	: *मृत्युंजय प्रभाकर*	20
समकालीन रंगमंच और रंगमंच की समकालीनता	: *सत्यदेव त्रिपाठी*	26
एक निर्देशक के नोट्स	: *प्रसन्ना*	36
रंगमंच का संकट	: *अमितेश*	41
क्षीण हो रही हैं वर्चस्व की धाराएँ	: *त्रिपुरारी शर्मा*	46
समय-स्थान-समुदाय और युवा रंगकर्म	: *जावेद अख़्तर खाँ*	52
डिजि़टल थियेटर की सम्भावनाएँ	: *अभिलाष पिल्लई*	60
सौन्दर्यशास्त्र के तकाजे और नुक्कड़ नाटक	: *प्रज्ञा*	66
हिन्दी रंगपरिदृश्य और नाट्यलेखन	: *हृषिकेश सुलभ*	76
रंगमंच और अनुदान	: *श्रीकान्त किशोर*	81
उपलब्ध रंगमंच सीमा है भी और नहीं भी	: *अविनाशचन्द्र मिश्र*	91
अभिनेता का स्पेस	: *पुंज प्रकाश*	95
नाटकों में रंग संगीत	: *आलोक मिश्र*	104
रंगमंच का संक्रमण काल	: *रामजी बाली*	108
समकालीन परिदृश्य में हिन्दी रंग पत्रिकाएँ	: *धर्मेन्द्र प्रताप सिंह*	111
दर्शक के पक्ष में कुछ बयान	: *मुन्ना कुमार पाण्डेय*	121
लेखक परिचय		127